साहित्य, संस्कृति और विचार का त्रैमासिक

ISSN 2321-9858

वागर्थ

जनवरी-मार्च, 2020
मूल्य : 100 रुपए

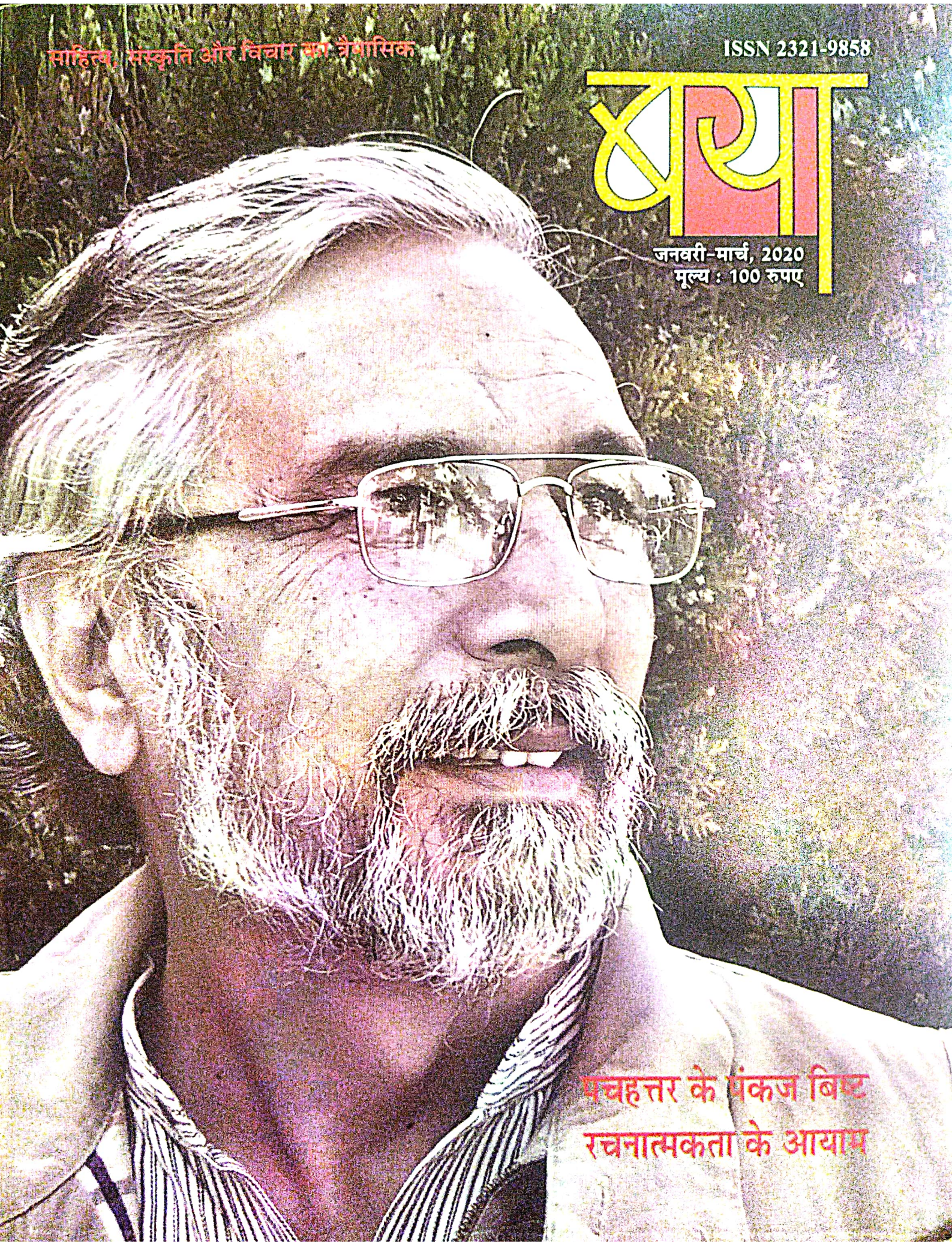

पचहत्तर के पंकज बिष्ट

रचनात्मकता के आयाम

बया

साहित्य, संस्कृति और विचार का त्रैमासिक
पूर्णांक : 44 वर्ष : 15 जनवरी-मार्च, 2020

75 के पंकज बिष्ट : रचनात्मकता के आयाम

आत्मकथन

6.
अरब सागर का पहाड़ी
पंकज बिष्ट

साक्षात्कार

14.
'मैंने अपने समाज के लिए जो किया, एक नागरिक होने के नाते किया' / **पंकज बिष्ट** से **कृष्ण सिंह, गौरीनाथ, जितेंद्र कुमार** और **सिद्धार्थ** की बातचीत

व्यक्ति-चित्र

29.
रहिये अब ऐसी जगह चलकर...
रामशरण जोशी

35.
विद्यार्थी जीवन की त्रिमूर्ति
इब्बार रब्बी

38.
तीन आदमियों से बना एक आदमी
असग़र वजाहत

41.
वो एक मुलाक़ात चली आती है
मंगलेश डबराल

43.
तनावहीन चेहरे वाला एक लेखक
बटरोही

46.
आज भी उतने ही खरे हैं पंकज बिष्ट
महेश दर्पण

सा रे गा मा

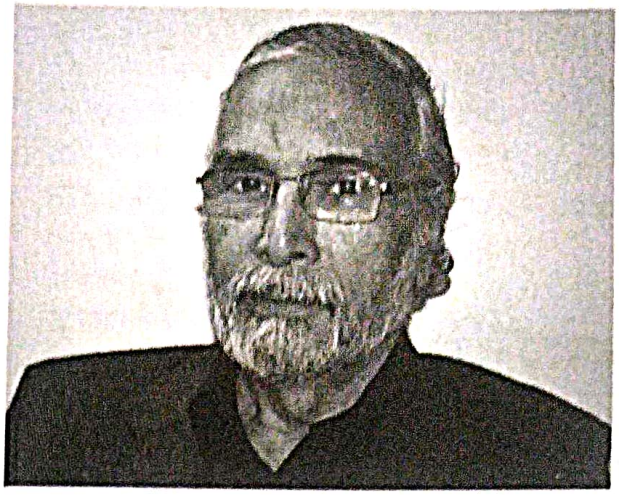

■ बया की पाती

पंकज बिष्ट के योगदान का मूल्यांकन

पंकज बिष्ट पर यह विशेषांक क्यों?... इस सवाल का जवाब देने से पहले संक्षेप में 'बया' के पंद्रहवें वर्ष में प्रवेश तक के सफ़र में विशेषांक निकालने को लेकर जो हमारा संपादकीय सोच रहा है, उसके बावत बताना ज़रूरी लगता है।...

'बया' एक सीमित संसाधन वाली पत्रिका है। इसलिए हमने शुरू से तय कर रखा है कि जो काम हिंदी की अधिकांश पत्रिकाएँ कर रही हैं हम उनको दुहराने की बजाय कुछ नया और अलग करने का प्रयास करेंगे। इसलिए हमने उन महान साहित्यकारों की सौवीं-सवा सौवीं जयंती पर कोई विशेषांक नहीं निकाला, जिन पर दूसरी कई पत्रिकाओं ने बड़े-बड़े विशेषांक निकाले। इसी तरह ख़ूब चर्चित-प्रशंसित रहे उन रचनाकारों पर हमने कोई विशेषांक की ज़रूरत नहीं समझी और न ही 'अवदान' स्तंभ के अंतर्गत उन पर विशेष चर्चा ज़रूरी लगी, जिन पर प्रायः दूसरी पत्रिकाओं ने विशेष ध्यान दिया है। ऐसा कहकर हम उनके कार्यों के प्रति कोई विरोध या असहमति नहीं जता रहे हैं, बस यह मानकर चल रहे हैं कि एक ज़रूरी काम किसी न किसी मंच/पत्रिका के ज़रिये हो गया। हम उनके कार्य को सहयोगी-प्रयास के रूप में देखते हैं। वरिष्ठ आलोचक सुरेंद्र चौधरी, प्रसिद्ध दलित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि और तुलसीराम, महत्त्वपूर्ण कथाकार-आलोचक अरुण प्रकाश पर निकले विशेषांक इसी सोच के परिणाम हैं जिन पर उस तारीख़ तक मूल्यांकन की वैसी कोई कोशिश नहीं हुई थी जिनके वे हक़दार रहे।

अब पंकज बिष्ट पर प्रस्तुत इस विशेषांक के बाबत... पंकज बिष्ट 75 के हो रहे हैं। यह एक अवसर बनता है, लेकिन ऐसा अवसर अन्य कई दूसरे महत्त्वपूर्ण लेखकों से जुड़ा भी हो सकता है... फिर किसी अन्य पर नहीं और पंकज बिष्ट पर ही क्यों?...

दरअसल, क़रीब पचास साल के हिंदी के साहित्यिक परिदृश्य को ग़ौर से देखें तो हमें अपवादस्वरूप ही ऐसे कुछ लेखक-कवि-आलोचक मिलेंगे जिन्हें अपनी किताबों की

49.
पंकज जी का वह पोस्टकार्ड...
मोहन आर्या
51.
पंकज के बारे में...
ज्योत्स्ना त्रिवेदी
53.
मेरे पापा, मेरे हीरो
स्वाति बिष्ट
54.
बचपन के नायक, युवाकाल के सहयात्री
उत्तरा बिष्ट
मूल्यांकन : उपन्यासकार
58.
लेखक या नागरिक
आनंद प्रकाश
61.
पंकज बिष्ट का कथा-साहित्य
रविभूषण
70.
पहाड़ों से लेकर महानगरों तक फैली कथाभूमि
प्रकाश कांत
76.
पंकज बिष्ट के उपन्यास : कलावादी दुश्चक्र के बरक्स
कमलानंद झा
85.
उपन्यासकार पंकज बिष्ट
प्रेमकुमार मणि
90.
लेकिन दरवाज़ा : नई रचनाशीलता की दस्तक
जानकीप्रसाद शर्मा
93.
मध्यवर्गीय पतनगाथा बतर्ज 'लेकिन दरवाज़ा'
वीरेन्द्र यादव
96.
उस चिड़िया का क़िस्सा : उस चिड़िया का नाम
विजय बहादुर सिंह
100.
एक असमाप्त खोज
गिरधर राठी
102.
किस चिड़िया का नाम ?
अब्दुल बिस्मिल्लाह

सा रे गा मा

चर्चा/समीक्षा की चिंता नहीं रही हो। इसके उलट ऐसे 'महान' बहुत मिलेंगे जो अपनी किताबों की चर्चा/समीक्षा के लिए ख़ूब-ख़ूब प्रयासरत रहे, निजी ख़र्चे पर भी चर्चा प्रायोजित करवाते रहे, हर तरह के दंद-फंद और तिकड़म कर चर्चा में बने रहे। 'लेकिन दरवाज़ा' के नीलांबर की तरह साहित्य के बल पर हर सुविधा और यश हासिल करने में लगे रहकर उसके औचित्य को भी सिद्ध करते रहे। स्थिति तो इतनी विकट हो गई है कि आज नए-से-नए रचनाकारों की ख़राब-से-ख़राब किताबों की दर्जनों समीक्षाएँ हो जाती हैं, क़रीबी आलोचकों के ज़रिए विमोचन-चर्चा के कार्यक्रम और विश्वविद्यालयों के ज़रिए एम.फ़िल., पी-एच.डी. तक जुगाड़ लिये जाते हैं। पुरस्कार की तो बात ही न करें!... इस लिहाज से पंकज बिष्ट की किताबों पर प्रकाशित समीक्षा-लेख खोजने लगेंगे तो भीषण निराशा हाथ लगेगी। 'हंस', 'पहल', 'वसुधा' जैसी अरसे से निकल रही या बंद हो गई अनेक प्रसिद्ध पत्रिकाओं की फाइल खंगाल डालिये! पंकज बिष्ट की किताबों की समीक्षा लगभग नहीं मिलेगी। ग़ौरतलब है कि उस दौर की या इधर की पत्रिकाओं में भी उन पर बहुत ज़्यादा सामग्री हाथ नहीं आएगी। उनकी किताबों पर गिनती की कुछ समीक्षाएँ मिलती हैं। ऐसा उनकी पीढ़ी के किसी और उपन्यासकार-कथाकार के साथ शायद ही हुआ हो।

आज़ादी के बाद के शुरुआती दस-पंद्रह सालों में भले ही कई बड़े उपन्यासकार हुए हैं और उनके कई महत्त्वपूर्ण उपन्यास आए हैं, लेकिन पिछले क़रीब पचास वर्षों में अरसे तक याद रह जाने वाले अच्छे उपन्यासों की संख्या बहुत कम है। इन पचास वर्षों में प्रकाशित उपन्यासों में से दस श्रेष्ठ/कालजयी उपन्यास चुना जाए तो निश्चय ही उनमें दो उपन्यास पंकज बिष्ट के होंगे—लेकिन दरवाज़ा' (1982) और 'उस चिड़िया का नाम' (1989)। यूँ बाद में उनका उपन्यास 'पंखवाली नाव' (2009) भी आया जो तब तक हिंदी के लिए अछूते विषय (समलैंगिकता) के लिहाज से एक ग़ौरतलब उपन्यास है। इसी बीच बच्चों के लिए भी उनका एक उपन्यास आता है—'भोलू और गोलू' (1994)। उपन्यासकार के अलावा पंकज बिष्ट की पहचान कहानीकार के तौर पर भी रही है। 'अंधेरे से' (1976) असग़र वजाहत के साथ साझा कहानी-संग्रह है। 'पंद्रह जमा पच्चीस' (1980), 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते?' (1985), 'टुंड्रा प्रदेश तथा अन्य कहानियाँ' (1995) उनके स्वतंत्र कहानी-संग्रह हैं। बीसवीं शताब्दी में प्रकाशित अन्य सभी कहानियों सहित कुल 32 कहानियों का संकलन है 'शताब्दी से शेष' (2013)। इक्कीसवीं शताब्दी में अब तक उनकी दो कहानियाँ छपी हैं—'रूपकुंड और जंगल का रास्ता' ('हंस', अक्टूबर, 2006) और '...ऐसी जगह...' ('नया ज्ञानोदय', मई, 2019)। कथेतर गद्य में भी उनकी लगातार सक्रियता रही है। कथेतर गद्य/वैचारिक लेखों की उनकी पाँच किताबें हैं—'हिंदी का पक्ष' (2008), 'कुछ सवाल कुछ जवाब' (2008), 'शब्दों के घर' (2009), 'ख़रामा-ख़रामा' (2012), 'शब्दों के लोग' (2016)। इसके अलावा हर महीने 'समयांतर' के लिए उनका जो योगदान है—

108.
पहाड़ और स्त्री अस्मिता की पड़ताल
चन्द्ररेखा ढडवाल

112.
'मैं ऐसा प्रेम हूँ, नहीं है साहस जिसमें अपना नाम लेने का'
रोहिणी अग्रवाल

115.
चलता-फिरता ड्रेकुला
जयप्रकाश कर्दम

121.
बिना लहर बिना पाल 'पंखवाली नाव'
मृत्युंजय प्रभाकर

मूल्यांकन : कहानीकार

128.
चाक्षुष माध्यम के बर अक्स शब्द की ताक़त
जानकीप्रसाद शर्मा

133.
बाज़ारवाद के प्रतिरोध की कहानियाँ
रोहिणी अग्रवाल

142.
यथार्थ के दुष्प्रभावों की जादुई तलाश
नीरज खरे

146.
समय की शिनाख़्त
बिपिन तिवारी

150.
उपभोक्तावाद के शुरुआती पदचापों की पहचान
राकेश बिहारी

153.
डरावने समय का कोलाज
अजय वर्मा

155.
पंकज बिष्ट कहानियाँ : कुछ नोट्स
उदय शंकर

158.
स्वातंत्र्योत्तर मनुष्य की संघर्ष गाथा
श्रुति कुमुद

161.
मृत्यु और निराशाजनक जीवन की कहानियाँ
वेदप्रकाश सिंह

सा रे गा मा

उससे कोई असहमत भले हो, उनके समर्पण और महत्त्व को नज़रअंदाज़ नहीं कर सकता। हिंदी में कहानी-कविताओं को महत्त्व देनेवाली साहित्यिक पत्रिकाओं की संख्या कभी कम नहीं रही, लेकिन हिंदी पट्टी के वैचारिक मसलों को लेकर सामाजिक-सांस्कृतिक विमर्श की ऐसी कोई पत्रिका जो लंबे समय से निकल रही हो, याद नहीं आ रही। अंग्रेज़ी में जिस तरह का काम 'ईपीडब्ल्यू', 'फ्रंटियर' वग़ैरह ने किया, हिंदी में ऐसी पत्रिका का लगभग अकाल ही रहा है। इस कमी को दूर करने का काम पंकज बिष्ट अपने निजी संसाधनों और प्रयासों के बूते पिछले बीस साल से लगातार 'समयांतर' के माध्यम से कर रहे हैं।

पंकज बिष्ट हिंदी साहित्य में पचास साल से भी ज़्यादा समय से सक्रिय हैं। उनकी पहली कहानी 'सूली चढ़ा एक और मसीहा' 52 साल पहले 1968 के 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में छपी थी। तब से वह न मात्र लेखन में निरंतर सक्रिय हैं, साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रकारिता भी किसी न किसी रूप में लगातार कर रहे हैं। सरकारी नौकरी के दौरान शुरू के 30 से ज़्यादा सालों तक 'आजकल' (बीच-बीच में कुछ समय के लिए 'योजना', 'आकाशवाणी पत्रिका', फ़िल्म डिवीज़न और समाचार प्रभाग में भी गए, मगर मुख्यत: 'आजकल' में ही रहे) के संपादन से जुड़े रहे। फिर 1998 में वहाँ से स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति लेकर मनोनुकूल पत्रकारिता करने के उद्देश्य से 'समयांतर' की तैयारी में लग गए। अक्टूबर, 1999 से लगातार मासिक 'समयांतर' निकाल रहे हैं।

हमारी दृष्टि में पंकज बिष्ट का लेखन (ख़ासकर उपन्यासकार वाला पक्ष) और उनकी पत्रकारिता वाला (विशेष कर बाद वाला यानी 'समयांतर') पक्ष है—जिसके चलते वे अपने तमाम समकालीनों में सबसे अलग और विशिष्ट नज़र आते हैं और प्राय: इसीलिए हमें उनका योगदान उल्लेखनीय और विचारणीय लगता है। बात साफ़ है कि इसी वजह से हमने पंकज बिष्ट के 75वें वर्ष में प्रवेश के अवसर पर उनके योगदान के मूल्यांकन की दिशा में एक विनम्र प्रयास किया है। 'बया' के पाठकों तथा समस्त साहित्यप्रेमियों की ओर से हम पंकज जी को 75वें जन्मदिन पर हार्दिक बधाई देते हैं। पंकज जी इसी प्रकार स्वस्थ और सक्रिय बने रहें, हमारी यही कामना है।

उम्मीद है, हिंदी के पाठकों, साहित्यप्रेमियों, छात्रों और साहित्य के अध्यापकों के लिए यह अंक कुछ सार्थक और मददगार सिद्ध हो।

इस अंक को हमने मुख्यत: चार खंडों में बाँटा है :

पहला खंड पंकज बिष्ट के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं पर केंद्रित है। इस खंड में पंकज बिष्ट के विस्तृत आत्मकथन के साथ ही उनसे लिया गया एक दीर्घ साक्षात्कार है। फिर उनके समकालीन और क़रीबी रहे—रामशरण जोशी, इब्बार रब्बी, असग़र वजाहत, मंगलेश डबराल, बटरोही, महेश दर्पण, मोहन आर्या जैसे मित्रों और उनकी पत्नी ज्योत्स्ना त्रिवेदी, बेटियाँ स्वाति और उत्तरा, बेटे वारिधि, बड़ी बहन विमल प्रतिभा के संस्मरण और टिप्पणियाँ हैं।

दूसरा खंड उपन्यासकार रूप में पंकज बिष्ट के मूल्यांकन

सा रे गा मा

पत्रकार व्यक्तित्व

166.
पंकज बिष्ट के साथ कॉफ़ी हाउस में बिताए हुए दिन
गोबिन्द प्रसाद

168.
पंकज बिष्ट : जैसा कि मैंने उन्हें जाना
सुभाष गताडे

171.
अदम्य जिजीविषा का रचनाकार
योगेन्द्र दत्त शर्मा

174.
असहमति के साहस का योद्धा
कृष्ण सिंह

178.
हाशिये के समाज की सशक्त आवाज़
प्रमोद कुमार बर्णवाल

मूल्यांकन : कथेतर गद्यकार

180.
विचरना मीरा के देश में ख़रामा-ख़रामा
आनंद पांडेय

कहानी

185.
बच्चे गवाह नहीं हो सकते ?
पंकज बिष्ट

188.
टुंड्रा प्रदेश
पंकज बिष्ट

यात्रा-वृत्तांत

194.
स्मृतियों की 'रेल' और तिब्बत जानेवाली गाड़ी
पंकज बिष्ट

पर केंद्रित है जिसमें—आनंद प्रकाश, रविभूषण, प्रकाश कांत, कमलानंद झा, प्रेमकुमार मणि, जानकीप्रसाद शर्मा, वीरेंद्र यादव, विजय बहादुर सिंह, गिरधर राठी, अब्दुल बिस्मिल्लाह, चंद्रेखा ढडवाल, रोहिणी अग्रवाल, जयप्रकाश कर्दम, मृत्युंजय प्रभाकर जैसे गंभीर रचनाकारों के आलोचनात्मक लेख हैं।

तीसरे खंड में कहानीकार के रूप में पंकज बिष्ट के मूल्यांकन पर विचार किया गया है। इस खंड में—जानकीप्रसाद शर्मा, रोहिणी अग्रवाल, नीरज खरे, विपिन तिवारी, राकेश बिहारी, अजय वर्मा, उदय शंकर, वेदप्रकाश सिंह, श्रुति कुमुद जैसे महत्त्वपूर्ण आलोचकों के मूल्यांकनपरक लेख हैं।

चौथे खंड में पंकज बिष्ट के पत्रकार-व्यक्तित्व को सामने लाने वाले गोविंद प्रसाद, सुभाष गताडे, योगेन्द्र दत्त शर्मा, कृष्ण सिंह और प्रमोद कुमार बर्णवाल जैसे लेखकों के संस्मरणात्मक लेख हैं। इनमें से अधिकांश वे हैं जो उनकी पत्रकारिता के चश्मदीद, सहयोगी लेखक, सहयोगी संपादक या मित्र रहे हैं। इसी खंड में उनके कथेतर गद्य पर केंद्रित आनंद पांडेय का मूल्यांकनपरक लेख भी है। साथ ही पंकज बिष्ट की दो प्रसिद्ध कहानियों—'बच्चे गवाह नहीं हो सकते?' और 'टुंड्रा प्रदेश'—के अलावा तिब्बत की यात्रा का उनका एक अद्भुत वृत्तांत है।

इस अंक के तमाम सहयोगी रचनाकारों के प्रति विशेष आभार जिनके सहयोग के बिना यह अंक संभव ही नहीं था। साक्षात्कार को संभव करवाने वाले सहयोगी साथी कृष्ण सिंह, जितेंद्र कुमार और सिद्धार्थ के साथ ही 'बया' परिवार के साथी अशोक भौमिक, बिपिन कुमार शर्मा, श्रीधरम, नंदिनी, दीपक कुमार दिनकर के प्रति आभार जिनका योगदान इस अंक के साथ हमेशा याद रहेगा।

अभी 9 फरवरी को दिवंगत हुए महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार-कथाकार गिरिराज किशोर के प्रति विनम्र श्रद्धांजलि। वे हमारे इतने क़रीबी रहे कि उनका जाना हमें निजी क्षति की तरह आहत कर गया है। उन पर विशेष लेख अगले अंक में रहेगा।

गौरीनाथ

सम्पादक
गौरीनाथ
कला सम्पादक
अशोक भौमिक
सम्पादन सहयोग
श्रीधरम, बिपिन कुमार शर्मा
प्रबंध सहयोग : **नंदिनी**
मुख्य प्रबंधक : **दीपक कुमार दिनकर**
आवरण छायाकार : **कमल जोशी**

संपादकीय संपर्क :
अंतिका प्रकाशन
सी-56/यूजीएफ-4, शालीमार गार्डन एक्सटेंशन-II
ग़ाज़ियाबाद-201005 (उ.प्र.)
ई-मेल : antika56@gmail.com
वेबसाइट : www.antikaprakashan.com
दूरभाष : 0120-2648212, 0-9871856053
मूल्य : यह अंक : 100.00 सामान्य अंक : 50.00
वार्षिक (व्यक्ति) : 300/- (रजि. डाक ख़र्च सहित)
वार्षिक (संस्था) : 350/- (रजि. डाक ख़र्च सहित)
आजीवन : 5,000/- विदेशों में (वार्षिक) : 50 डालर/30 पाउण्ड
'बया' से संबंधित सारे भुगतान चेक/ड्राफ्ट या मनीआर्डर **'अंतिका प्रकाशन'** के नाम करें।

संपादन-प्रकाशन
अवैतनिक-अव्यावसायिक।

'बया' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली रहेगा।

रचना में व्यक्त विचार से संपादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

संपादक-प्रकाशक-स्वामी-मुद्रक : गौरीनाथ के लिए सी-3/51, सादतपुर, दिल्ली-110094 से प्रकाशित और आर.के. ऑफसेट प्रोसेस, एम-28 नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से मुद्रित।

समय की शिनाख़्त

बिपिन तिवारी

युवा आलोचक, हिंदी विभाग, गोवा यूनिवर्सिटी

साहित्य अपने समय की शिनाख्त करता है। यह शिनाख्त कई बार इतनी प्रामाणिक होती है कि इसे समय का आख्यान कहा जा सकता है। इस आख्यान में समय के उतार-चढ़ाव, बनते-बिगड़ते भाव-बोध और समय को अभिव्यक्त करने वाले मुहावरे शामिल होते हैं। भारत में अस्सी के बाद का इतिहास कुछ ऐसा ही है। जब भारतीय समाज का बहुत कुछ बदल जाता है। समाज की संरचना, संबंध, साम्प्रदायिक सौहार्द आदि। इस तथ्य को हिंदी कहानीकारों ने अपने मुहावरे में अभिव्यक्त किया है। इन बदलावों को पंकज बिष्ट की कहानी-यात्रा में भी देख-समझ सकते हैं। पंकज बिष्ट की कहानियों में व्यवस्था के सामने कमज़ोर पड़ते मनुष्य हैं तो उसके ख़िलाफ़ खड़े होते मनुष्य भी हैं। लेकिन व्यवस्थागत षड्यंत्रों के विरुद्ध लड़ने वाले लोग कम हैं। पंकज बिष्ट की कहानियाँ उन लोगों की पहचान कराती हैं जो आम मनुष्य के जीवन से सुकून, आस्था, सांप्रदायिक सद्भाव मिटाने की साजिश में शामिल हैं। कहानीकार का ऐसे पात्रों के प्रति किसी तरह का कोई दुराव नहीं है। वह उन पात्रों के साथ सहानुभूति रखते हुए उनकी दयनीयता दिखाता है। वह चाहे इनके कहानी के पात्र संग्राम सिंह हो या कोई और। यहाँ पात्र पश्चाताप में घुलते हैं। इस पश्चाताप से मुक्त होने के लिए अपने को उन कृत्यों से दूर करना चाहते हैं लेकिन कर नहीं पाते। पंकज बिष्ट की कहानियों में बचपन के ख़त्म होने की त्रासदी एक अलग तरह से घटती है। बचपन को ख़त्म करने में पूरी व्यवस्था शामिल है। समाज में परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बन रही हैं जिसमें बचपन पर ही सबसे बड़ा संकट आ गया है। बचपन के ख़त्म होने का मतलब है समाज से उमंग, उल्लास, निश्छल हँसी, अबोधपन आदि का ख़त्म होना। सामाजिक परिस्थितियों के सामने कहानी के पात्र सीधे हार नहीं मानते। अंतिम समय तक परिस्थितियों को चुनौती देते हैं। कमज़ोर पड़ते हैं, फिर संभल जाते हैं। मानवीयता किसी भी स्थिति में नहीं छोड़ते। इनकी कहानियों में बच्चों में परिस्थितियों के कारण 'बड़े' होने का बोध पैदा होता है लेकिन कुछ समय बाद वह उसी बचपन में चले जाते हैं। यह बात भले ही कल्पना के स्तर पर घटित होती है, लेकिन परिस्थितियों का तगड़ा प्रतिकार है। जहाँ यथार्थ बच्चों के बचपन की अबोधता से हार जाता है। यानी परिस्थितियों के लाख तोड़ने के बावजूद उम्मीद बची रहती है।

इस लेख में पंकज बिष्ट की तीन कहानियों—'बच्चे गवाह नहीं हो सकते?' (1984), 'टुंड्रा प्रदेश'(1990) और '...कुंजरो वा!' (1991) की विवेचना की जाएगी। इन तीन कहानियों को चुनने के पीछे सोच यह है कि आज जब बचपन को ख़त्म करने और समाज को सांप्रदायिक आधार पर बाँटने की गहरी साजिश चल रही है, तब इन षडयंत्रों को समझना बेहद ज़रूरी है।

'बच्चे गवाह नहीं हो सकते?' कहानी उस दौर में लिखी गई जब भारत में रंगीन टी.वी. का प्रसारण शुरू होता है। टी.वी. आने के साथ भारत में एक नई तरह की संस्कृति विकसित होने लगती है। जहाँ टी.वी. सिर्फ़ एक इलेक्ट्रानिक उपकरण न रहकर संस्कृति का पर्याय बन जाती है। अब टी.वी. का घर में होना समाज में प्रतिष्ठा का मानक था। लोग घरों में अपनी सारी आवश्यकताओं में कतर-ब्योंत कर किसी भी तरह से ईएमआई के सहारे (क़र्ज़ देने का आधुनिकतम तरीक़ा) टीवी ख़रीद लेना चाहते हैं। टी.वी. मनोरंजन और आधुनिकता का पर्याय बन गया। जहाँ सुबह की शुरुआत रंगीन स्क्रीन पर रामायण, महाभारत से होती है। दिन भर न जाने कितने धारावाहिक, देश-दुनिया की ख़बरें और भी बहुत कुछ दिखाया-सुनाया जाने लगा। टी.वी. के सहारे भारत में नई संस्कृति फैलने लगी। और कुछ ही समय में सभ्यता-संस्कृति को नियंत्रित-निर्धारित करने लगी। पहनावा, रहन-सहन, पूजा-पद्धति, मूल्य आदि में बदलाव हुआ। अधिकांश वर्ग इसकी गिरफ़्त में आ गया। हर उम्र के लोग इसके साथ ही जीवन में गति देखने लगे। लोगों के बीच बातचीत का ज़रिया टी.वी. में दिखाया गया कोई न कोई कार्यक्रम हो गया। पिछड़ेपन से बचने की इस होड़ में समाज का एक बड़ा तबका आज भी शामिल दिखाई पड़ता है। बिशन दत्त भी इसी होड़ में लग जाता है। बिशन दत्त की आर्थिक हालत पहले से ही बदतर है। कुछ भी नया ख़रीदने के लिए उसकी जेब अनुमति नहीं देती। लेकिन तीन बच्चों के बाप होने की जिम्मेदारी के अहसास से वह टी.वी. ख़रीदने का अपराध करने को तैयार हो जाता है। वह ख़ुद टी.बी. का मरीज है लेकिन घर में टी.वी. नामक उपकरण लाना चाहता है।

यहाँ एक तरफ़ टी.बी. (बीमारी) के कारण उसकी ज़िंदगी कष्ट में है वहीं दूसरी तरफ़ टी.वी. (वस्तु) से सुखी जीवन की उम्मीद पाल लेता है। बिशन दत्त को घर के हालात का अंदाज़ा है। जहाँ सबकुछ ढहने के कगार पर है। कहानीकार इस यथार्थ को व्यक्त करता है। '...पत्नी दूध पीने की सीमा से लगातार बाहर रही थी, इसलिए दूध बिशन का ही कटा। यदा-कदा के मौसमी फल भी अब ग़ैर-मौसमी से बेगाने हो गए और सब्जियाँ कौर को हलक में अटकाने लगीं।' इस त्रासदीपूर्ण जीवन में उसे सुकून बस इस बात का है कि अब बच्चों को टी.वी. देखने के लिए किसी दूसरे के यहाँ जाना नहीं पड़ेगा। एक पिता के लिए यह सुकून देने वाली बात है। टी.वी. देखने के लिए पड़ोसियों द्वारा बच्चों को उल्टी-सीधी बातें कहना, अपरोक्ष रूप से टी.वी. ख़रीदने की नसीहत देना कम यातनादायक नहीं है। यहाँ एक पिता की टूटन भी है जो टी.वी. ख़रीदने के चक्कर में अपने इलाज तक की परवाह नहीं करता। वैसे तथ्य तो यह मिलते हैं कि

टी.वी. देखते हुए बिशन दत्त की मृत्यु हुई लेकिन सच्चाई कुछ और है। उसकी मृत्यु तो उस दिन से शुरू हो गई थी जिस दिन से उसके पड़ोसियों के यहाँ टी.वी. आने लगे थे। मृत्यु का जो दृश्य कहानी में दिखाया गया है, वह स्लो मोशन शॉट की तरह का है। यहाँ मृत्यु को भी फ़िल्मी दृश्य में बदल दिया गया है। इसलिए रघुवा अंतर नहीं कर पाता कि क्या वास्तव में उसके पिता की मृत्यु हो रही है या टी.वी. का कोई दृश्य घट रहा है?

उपभोग का जीवन की तुलना में महत्त्वपूर्ण हो जाना समाज की वैचारिक शून्यता को दिखाता है। बच्चे यथार्थ और कल्पना में अंतर नहीं कर पा रहे हैं। यथार्थ दिन पर दिन त्रासदीपूर्ण हो रहा है लेकिन विज्ञापनों में सबकुछ ख़ुशनुमा दिख रहा है। बिशन दत्त यथार्थ से भागकर कल्पना की दुनिया नहीं चुनता बल्कि चुनने को मजबूर होता है। जहाँ दारा सिंह जैसे पहलवान, अभिनेता पैसों के लिए 'शक्ति' एनर्जी प्रोडक्ट का प्रचार करते दिखते हैं, वहीं लड़कियाँ, महिलाएँ ललचाती नज़रों सी पानी और सौंदर्य प्रसाधन बेचती दिखाई देती हैं। ऐसे में बिशन दत्त कैसे अपने को बचा पाएगा? यह वह दौर है जब भारत में सामाजिक बदलाव का कोई बड़ा आंदोलन नहीं होता है। राजनीति में इंदिरा गांधी की सरकार भी अब कुछ नया करने की तुलना में यथास्थिति बनाए रखना चाहती थी। देश के आर्थिक हालात ऐसे बनते जा रहे हैं कि अब भारत में समाजवादी राज्य के सपने को धीरे-धीरे छोड़ने की बात की जाने लगती है। भारत में रंगीन टी.वी. प्रसारण के साथ ही इसकी शुरुआत हो जाती है। समाज के मध्य और निम्न वर्ग को एक नई उम्मीद दिखने लगती है। जहाँ कुछ तो नया है। यह नया कैसा है? इस पर सवाल नहीं है। इस नएपन को अपनाने की क़ीमत में समाज को बहुत कुछ खोना पड़ता है।

बच्चों की संवेदनाएँ इस तरह ख़त्म हो रही है कि वह जीवन और मृत्यु के बीच फ़र्क़ नहीं कर पाते। रघुवा के सामने पिता की हो रही मृत्यु एक दृश्य रूप में घटती है। वह जब तक समझ पाता तब तक पिता मृत्यु का शिकार हो जाते हैं। कहानीकार टी.वी. से उपजी संस्कृति को मृत्यु की दृश्य-कल्पना के रूप में हमारे सामने रखता है। रघुवा की मृत्यु बोध से उपजी चुप्पी में कई सवाल खड़े हो जाते हैं। इन सवालों में अपराधबोध है। यह अपराधबोध नई संस्कृति के प्रति घोर प्रतिकार का भाव है। रघुवा का चेतना में लौटना उसका बचपन से प्रौढ़ में तब्दील हो जाना है। मौत का टी.वी. के एक दृश्य में बदल जाना सामान्य नहीं है। कहानीकार ने रघुवा के बचपन से प्रौढ़ हो जाने की कहानी बहुत ठण्डे लहज़े में कही है। 'जब तक वह आपे में आया फर्श पर से ख़ून की धारा बहते हुए रसोई-घर की ओर जाने लगी थी। आवाज़ रघुवा की उस समय भी बंद थी, जैसे किसी ने गला पकड़ लिया हो। ...' टी.वी. ने पूरी की पूरी नई पीढ़ी को कल्पित दुनिया का नागरिक बना दिया है। जहाँ दृश्यों का बस आनंद लिया जा सकता है—वहाँ विचारों की, संवेदना की गुंजाइश बहुत कम है। यहाँ मौत भी बिक रही है। मानव समाज की विकास-यात्रा में जो काम सदियों में नहीं हो पाया वह कुछेक सालों में हो रहा है।

कहानीकार बिशन दत्त की मृत्यु को जिस जादुई शैली में व्यक्त करता है उससे पाठक जुड़ नहीं पाता। बिशन दत्त का सेमल के फूल के रूओं जैसा हवा में उछलने का दृश्य कारुणिक नहीं बन पाता। रघुवा को मनःस्थिति का बस संकेत मिल पाता है। मृत्यु को घटते दिखाना और उसी हिसाब से रघुवा की मानसिकता में बदलाव होना अपने में रहस्य बना रहता है। कहानी इस संदेश को पहुँचाने में कहीं न कहीं कमज़ोर साबित होती है। लेकिन कहानी बिशन दत्त की टी.वी. ख़रीदने की विवशता और टूटन को बख़ूबी जाहिर करती है। बिशन दत्त की टूटन पाठक को गहरे तक प्रभावित करती है।

वहीं 'टुंड्रा प्रदेश' कहानी बचपन के छीजते जाने की त्रासदी को अभिव्यक्त करती है। जहाँ पिता की मृत्यु के बाद पहियेवाली ठेली पर एक लड़का मूंगफली बेचने को मजबूर है। ठेली पर वह केवल मूंगफली ही नहीं बेचता, अपने बचपन के सपनों को भी बेच रहा है। उसकी हँसी-मुस्कान लगभग विलुप्त हो चुकी है। दिसंबर की भयानक ठंड में बड़प्पन के बोझ से दबा लड़का मूंगफली बेचकर अपने परिवार (माँ, भाइयों) का ख़र्च चलाने के मंसूबे पाले हुए है। ठेली पर मूंगफली के बीच रखी रखिया हंडिया से वह मूंगफलियों को गरमाए हुए है। यहाँ सिर्फ़ मूंगफली ही गर्म नहीं रखी जा रही हैं बल्कि जीवन की न हारने वाली, न थकने वाली जिजीविषा भी गर्म रखी जा रही है। घर के हालात ने उसे सर्दी के अहसास से मुक्त कर दिया है। उसकी चिंता बस उन चंद पैसों पर है। जबकि माँ छोटे भाई को भेजकर उसे जल्दी घर लौट आने का संदेश भेज चुकी है। '...बहुत ठंडे है, घर आ जा,...' इस यथार्थ को जानता तो वह भी है। लेकिन यथार्थ ने संवेदनशून्य कर दिया है। सवाल दस रुपए का है। जिससे घर चल सके। इसलिए नौ रुपए कमाने के बाद एक रुपए के लिए वह संघर्ष कर रहा है। वह छोटे को बहलाने के लिए बार-बार खेलने भेज देता है। वह ग्राहक के आने की उम्मीद अंत तक नहीं छोड़ता। और जब उम्मीद कहीं छूटने लगती है तो वह अपने भीतर की सारी मानवीयता को दरकिनार कर छोटे को घर के हालात की बात समझाता है। और उससे उसके खेल के सामान 'साइकिल टायर' को आग जलाने के लिए देने के लिए कहता है। दोनों के बीच की बातचीत दिल दहला देने वाली है—

..."तू अपना पहिया दे दे, मैं तेरे लिए दूसरा ला दूँगा।" इस बार बड़े ने देर किए बिना सफ़ाई से बात स्पष्ट कर दी।

"पहिया!" उसका मुँह कुछ क्षण को बंद होना भूल गया। उसकी जमती अंगुलियाँ स्वयमेव पहिये पर कस गईं। यह उसकी कल्पना से परे था कि भाई इतना क्रूर और असंभव प्रस्ताव रख सकता है।

"मैं तेरे लिए दूसरा ला दूँगा।" बड़े ने खड़े होते हुए दोहराया।

"नहीं!" छोटे ने ज़ोर से सर हिलाते हुए कहा और एक क़दम पीछे हट गया। उसे लगा, बड़ा उसे पकड़ लेना चाहता है।

बड़े को लगा, शायद छोटा भाग जाना चाहता है। पर भागा नहीं, बल्कि जैसा का तैसा खड़ा रहा। बड़े का धीरे-धीरे हाथ तो बढ़ा, पर ठेली की ओर। गल्ले में से सारे पैसे निकाल, अपने हाथ में रख, छोटे के सामने लाते हुए बोला, "दिन भर की यह बिक्री है। इनसे क्या होता है?"

...बड़े के स्वर की चिंता हिला देने वाली थी। छोटा चुप खड़ा रहा। उसकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। धीरे-धीरे उसका गला रुंधने लगा था। अवश्यंभावी पूरी विकरालता में सामने खड़ी थी। उसका विरोध न जाने कहाँ खो गया था। ...चक्का अचानक हल्की धप्प की आवाज़ करता, स्वयं ही उसके हाथों से छूट, रथ के टूटे पहिये की तरह ज़मीन पर जा गिरा।..."

दोनों के बीच की बातचीत में कम बिक्री होने से उपजा ठंडापन है। यहाँ दोनों अपनी उम्र से कई गुना बड़े जैसा व्यवहार करते हैं। छोटा अपनी लाख असहमति के बावजूद बड़े का प्रतिकार नहीं कर पाता। और बड़ा छोटे की उदासी को देखकर स्तब्ध रह जाता है। ग़रीबी व्यक्ति की सहज मानवीय प्रवृत्तियों को भी कुचल देती है। एक तरफ़ कुछ समय पहले छोटे में उम्रगत सारी भावनाएँ पूरे उफान पर थीं। टायर के चक्करों से लगातार समय काट रहा था। अब समय कैसे कटेगा इसकी चुप्पी है। समय काटने का एकमात्र सहारा ही उससे छिन रहा है। छोटे के पास टायर न देने के कई सारे तर्क थे। पर भाई ने जब घर ख़र्च का सवाल उठाया तो उसका समूचा अबोधपन वयस्कता में बदल गया। वैसे दोनों भाई उम्र के लिहाज से उसी बचपने में थे जहाँ किसी तरह की चिंता, फ़िक्र नहीं होती। छोटे भाई के हाथ से पहिया ज़मीन पर गिर जाता है। साथ ही छोटे की उम्मीदें भी ज़मीन में गिर जाती हैं। दोनों के बीच बस सन्नाटा रहता है। यहाँ बहुत कुछ अनकहा है। बड़ा लड़का टायर को आग के हवाले भले ही करता है लेकिन छोटे भाई की चुप्पी उसके दिल-दिमाग़ को कँपा देती है। उसके सारे तर्क दम तोड़ते नज़र आते हैं। बड़े भाई को जिम्मेदारियों ने भले ही बड़प्पन के बोध से भर दिया है लेकिन वह बड़प्पन और बचपन के बीच झूलता रहता है। वह दो स्तरों पर टूटता है। एक तो वह चाहकर भी अपने भाई की उमंग वापस नहीं लौटा पाता। और दूसरे वह ख़ुद को भी जिम्मेदारियों के नाम पर इस कृत्य को सही नहीं मान पाता। वह टायर को तो आग से खींचकर बुझा लेता है लेकिन छोटे भाई की उम्मीदें जल जाती हैं। उम्मीदों का बुझ जाना सामान्य नहीं है। बच्चों का बचपन छिन जाना, उनका असमय बड़ा होना, दिखाता है कि हम एक ख़तरनाक दौर में जी रहे हैं। आज जब बच्चों के बचपन को बचाने के लिए 'बचपन बचाओ आंदोलन' चलाया जा रहा है तब इस कहानी का अर्थ बड़ा बन जाता है। बचपन के बचने से वह सारी उमंगें, अबोधपन, आशाएँ-आस्थाएँ बची रहेंगी। वह सारे मानवीय भाव बचे रहेंगे जो संवेदनशील समाज के लिए बेहद ज़रूरी हैं। कहानी का शिल्प बच्चों की मानसिक ऊभ-चूभ को मार्मिकता से व्यक्त करता है। कहानी में बहुत कुछ अनकहा है जिसे पाठक पढ़ते हुए महसूस करता है। कहानी समय की इस क्रूरता को प्रामाणिक ढंग से व्यक्त करती है। यह कहानीकार की सफलता है कि वह पाठक को कथानक की संवेदना से गहरे स्तर पर अंत तक जोड़े रखता है।

वहीं '...कुंजरो वा!' कहानी सांप्रदायिकता के कारण समाज में एक-दूसरे के प्रति बढ़ते अविश्वास, भय और उससे उपजी बदला लेने की प्रवृत्ति का खुलासा करती है। इससे समाज का साझा ताना-बाना कमज़ोर होता है। जहाँ व्यक्ति का धर्म ही उसकी पहचान बन जाता है। सितंबर उन्नीस सौ नब्बे में सोमनाथ से शुरू हुई लालकृष्ण आडवाणी की रथ-यात्रा ने समाज को हिंदू-मुस्लिम में बाँट दिया था। रथ-यात्रा में लगातार बजते लाउडस्पीकरों से मुसलमानों को आस्तीन का साँप कहकर हिंदुओं को भड़काया गया। पहाड़ के किसी इलाक़े में रहने वाले कसाई का धंधा करने वाले सुलेमान के मन में अचानक डर पैदा होने लगा। उसके साथ ही धंधा करने वाले बाज़ार के हिंदू भाई अब कुछ दूसरी तरह की बातों में शामिल हो गए। म्लेच्छों से बदला लेने, त्रिशूल, मंदिर आदि बातें की जाने लगीं। गुमान सिंह और उसके दूसरे साथी मुसलमानों के ख़िलाफ़ हिंदुओं को भड़काने की साजिश में शामिल हो गए। सुलेमान ने अख्तर से इसका ज़िक्र भी किया लेकिन वह इस बात को स्वीकार नहीं करता। लेकिन एक दिन सुलेमान दुकान की उधारी छोड़कर रातों-रात अपने परिवार को लेकर कहीं चला गया। अख्तर दिन भर आसपास के गाँव वालों को सामान पहुँचाने के बाद शाम को अपनी कोठरी में मुन्ना(बकरा) के साथ सो जाता है। वह अपने को मुन्ना(बकरा) का माँ और बाप दोनों मानता है। सुलेमान के जाने के बाद एक दिन मुन्ना ग़ायब हो गया। इधर-उधर खोजने पर भी मुन्ना नहीं मिला। अख्तर का मुन्ना के बिना खाना-पीना लगभग छूट गया। वह दिन-रात मुन्ना के लिए दुखी रहता। अख्तर को वो सारी बातें प्रत्यक्ष घटित होती दिखने लगी जो सुलेमान ने कही थीं। 'जमाना बदल गया है'...'किसी का भरोसा नहीं रहा है। मैं नहीं कहता, लोग अच्छे नहीं थे। जब थे, तब थे...' यानी जिस समाज के बीच रहते हुए अख्तर को अपने संबंधों पर विश्वास था वही विश्वास इस घटना से दरक गया। वैसे इस विश्वास को दरकाने के लिए सुनियोजित तरीक़े से प्रयास किये गए। सोमनाथ यात्रा शुरू करने का उद्देश्य ही यही था कि हिंदुओं के भीतर ऐसा धार्मिक उन्माद पैदा किया जाए कि वह मुसलमानों को शत्रु मानकर उनसे बदला लेने को तैयार हो जाएँ। यह बात महानगर से लेकर छोटे-छोटे गाँवों तक प्रचारित की गई। हिंदुओं से उनके हिंदू होने का प्रमाण माँगा गया। यदि सच्चे हिंदू हो तो राम-मंदिर को लेकर ख़ून खौलना चाहिए। बाबरी-मस्जिद विध्वंस करने का भाव पैदा होना चाहिए। बाज़ार में गुमान सिंह और उसके साथ के दूसरे लोग शिवदत्त, बनवारी आदि ने मुसलमानों से बदला लेने के अर्थ में म्लेच्छ-अख्तर के बेटे मुन्ना को मार डाला। यह हत्या एक जानवर की नहीं एक विश्वास की है। यानी हिंदुओं के बारे में जो अख्तर सोचता था उसे ग़लत साबित कर दिया गया। अख्तर कहता भी है कि 'सबकुछ मानने से ही है।' इस तर्क का किसी के पास जवाब नहीं है। मानने से ही तो भगवान हैं। जिसे मान लो वही अपना है। जबकि सांप्रदायिक पार्टियों के लोग राम मंदिर के नाम पर हिंदुओं की आस्थाओं को बेच रहे हैं। जबकि अख्तर अपने उस बेटे मुन्ना की तिजारत स्वीकार नहीं करता। वह मुआवजे के रूप में इकट्ठा किए गए पैसों को गुमान सिंह और साथियों से लेने के बाद अगले दिन लौटा देता है। अख्तर सिर्फ़ मुआवजे के पैसे नहीं लौटाता बल्कि उस संस्कृति का प्रतिकार करता है जो व्यवस्था का अनिवार्य हिस्सा बन चुकी है। अख्तर के लिए मुआवजा मुन्ना की कमी नहीं पूरी कर सकता। यह मुआवजा मुन्ना की तिजारत होगी। यही तिजारत आज की जा रही है। सरकार पहले लोगों का दमन करती है और फिर मारे गए लोगों को मुआवजा दे देती है। अख्तर अपने नेपाली साथियों के साथ भले ही अपने बेटे मुन्ना के शत्रुओं की खोज नहीं कर पाता लेकिन कहानीकार उन लोगों की पहचान करा देता है। वह मुआवजे के पैसों को नेक काम में लगाने की बात कहता है। और नेक काम है—'राम जी का मंदिर बनाने का।' मुआवजे के पैसे गिनते हुए गुमान सिंह और उनके साथियों के हाथ एक-एक कर ख़ून से सन जाते हैं। इनकी पहचान होना बहुत ज़रूरी है। दरअसल ऐसे लोग जो धर्मरक्षक का दावा करते हैं उनको समाज में चिह्नित किया जाना ज़रूरी है।

दरअसल राम को लेकर सांप्रदायिक लोगों ने अपना विशेषाधिकार मान लिया है। जबकि राम की समाज में उपस्थिति अलग तरह की है। राम किसी धर्म विशेष तक सीमित नहीं है। अख्तर के लिए राम

अल्लाह का ही दूसरा रूप है जबकि गुमान सिंह के लिए राम हिंसा करने पर उतारू व्यक्ति में बदल जाते हैं। अख्तर के मन में किसी के प्रति कोई नफ़रत नहीं है। वह अपने साझेपन की आस्था पर अंत तक डटा रहता है। सांप्रदायिक सोच वाले व्यक्तियों ने मुन्ना को मारकर 'म्लेच्छों' से 'बदला' भले ही ले लिया हो लेकिन वह अपनी नज़र में घृणित बन जाते हैं। एक मुस्लिम जो अपनी पूरी जिंदगी इस्लाम में आस्था रखता रहा वह अपने बेटे की तिजारत का मूल्य न लेकर राम मंदिर में पैसा लगा देने की बात कहता है। वहीं गुमान सिंह जैसे लोग जिंदगी भर हिंदू रहने के बावजूद दूसरे धर्म के लोगों के प्रति घृणा ही रखते रहे। यह है भारतीय समाज की असल सच्चाई। सांप्रदायिक पार्टियाँ कितने सुनियोजित तरीक़े से क्यों न इस सौहार्द को तोड़ने की कोशिश करें लेकिन अख्तर जैसे लोगों के कारण इनकी उम्मीद पूरी नहीं हो पाती। अख्तर के प्रतिरोध में कोई शोर-शराबा नहीं है। और न ही ख़ुद को महान बताने का भाव। लेकिन अख्तर के प्रतिरोध से सांप्रदायिक लोगों में भी अपने कृत्य को लेकर पश्चाताप का भाव पैदा होता है। लेकिन कहानीकार ऐसे पात्रों को यह मौक़ा नहीं देता कि वह अपने समाज की सहानुभूति ले सकें।

हिंदी में ऐसी कम कहानियाँ लिखी गई हैं जहाँ इस ढंग का प्रतिरोध है और सांप्रदायिक लोगों को पहचानने की बारीक दृष्टि। बड़ी कहानी की सफलता यही है कि वह पढ़ने वाले को सोचने पर विवश करती है। आज जब अधिकांश घटनाओं को हिंदू-मुस्लिम में देखा-दिखाया जा रहा है तब इस कहानी का एक नया अर्थ खुलता है। हिंदी में इस साझेपन की बड़ी लंबी परंपरा हैं जहाँ राम को गाने वाले कई बड़े मुस्लिम रचनाकार हमारे साहित्य में हैं तो कई ऐसे हिंदू रचनाकार भी हैं जो इस्लाम के मूल्यों को अपने साहित्य में अभिव्यक्त करते रहे हैं। कहानी का शीर्षक '...कुंजरो वा!' महाभारत के आख्यान की याद दिला देता है जहाँ धर्मराज युधिष्ठिर अपने गुरु से झूठ बोलकर कौरवों की सेना पर विजय प्राप्त करते हैं। लेकिन युद्धिष्ठिर के मन में अपने इस कृत्य पर पछतावा अंत तक रहता है। यहाँ गुमान सिंह पहले अख्तर के मुन्ना को मारने के लिए कॉलेज के लड़कों को उकसाता है और फिर अख्तर के सीधे सरल सवालों से डरकर उसके लिए मुआवजा इकट्ठा करता है। फिर भी वह अख्तर के भय से मुक्त नहीं हो पाता। कहानीकार गुमान सिंह को एक ऐसे पात्र के रूप में चित्रित करता है जो लाख हिंदू धर्म के सांप्रदायिक विचारों से प्रेरित होने के बावजूद वह अपने कृत्य को सही नहीं मान पाता। जैसे धर्मराज युधिष्ठिर ने अपने गुरु से झूठ भले ही बोल दिया लेकिन जिस विश्वास को उन्होंने खो दिया उसे दोबारा नहीं प्राप्त कर सके। वही स्थिति गुमान सिंह की रही। विश्वास का टूटना ही सबसे बड़ी टूट है। आज इसी विश्वास को तोड़ने के लिए ही सरकारी स्तर पर एनआरसी और सीएबी/सीएए का क़ानून बनाया गया है। जिससे कैसे भी धर्मनिरपेक्ष भारत को धार्मिक भारत में तब्दील कर दिया जाए!

पंकज बिष्ट की कहानियाँ बहुत धीमी गति से चलती हैं। यहाँ पात्रों की टूटन, हताशा, मानवीय मूल्यों में आस्था आदि बहुत धीमे स्तर पर घटित होती हैं। इसलिए आप कहानी जल्दबाजी में नहीं पढ़ सकते। पात्रों की जिजीविषा से आपको टकराना पड़ेगा, हौसले को सलाम करना पड़ेगा। पंकज बिष्ट की कहानियों को लेकर हिंदी कहानी संकलनकर्ताओं और आलोचकों के मन में कोई न कोई ग्रंथि है। स्वतंत्र्योत्तर कहानी संकलन से लेकर, संकल्प कथा दशक या दूसरे संकलनों में इनकी कहानियों को शामिल नहीं किया गया है। यही बात आलोचनात्मक पुस्तकों में देखने को मिलती है। जहाँ नामोल्लेख करके छोड़ दिया गया है। वह भी 'टुंड्रा प्रदेश' या 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते?' कहानी का। ऐसा भी नहीं है कि इन दो कहानियों के अतिरिक्त पंकज बिष्ट की कहानियाँ समय के यथार्थ को बारीकी से पकड़ने में सक्षम नहीं हैं। इनकी कुछ कहानियों जैसे होम वर्क, कुंजरो वा, हल, मोहनराम(दास) आख़िर क्या हुआ आदि अपने समय की महत्त्वपूर्ण कहानियाँ हैं। इसके पीछे कहीं-न-कहीं कहानीकार पंकज बिष्ट की तुलना में 'समयांतर' पत्रिका संपादक पंकज बिष्ट का प्रभाव ज़्यादा है। जब रचना की तुलना में रचनाकार से जुड़ाव ज़्यादा महत्त्वपूर्ण बनने लगे तो उस समय के संकलनकर्ता और आलोचक सवालों के घेरे में आने से नहीं बच सकते। आलोचकों की यह बात सही है कि पंकज बिष्ट की कहानियों के शीर्षक कथानक के हिसाब से फिट नहीं बैठते। कई बार शीर्षक चौंकाते हैं। लेकिन कथ्य सोचने को मजबूर करता है। इनकी कहानियों में मृत्यु की भयावहता है तो वहीं उसको चुनौती देने वाले पात्र भी हैं। यहाँ पात्र अंतिम समय तक पूरी आस्था के साथ लड़ते है। पंकज बिष्ट की कहानियों में शिल्पगत चमत्कार कहीं-कहीं है। अधिकांश कहानियाँ सीधे-सीधे कही गई हैं। लेकिन वर्ग शत्रु की पहचान पुख्ता तरीक़े से की गई है। कहानियाँ अपने समय की सच्चाई को बारीकी से उधेड़ती हैं और किसी पात्र के प्रति नफ़रत का भाव पैदा नहीं करतीं।

संपर्क : हिंदी विभाग, गोवा विश्वविद्यालय,
फैकल्टी ब्लॉक-बी, तालेगाँव पठार, गोवा-403206
ईमेल : bipintiwari85@gmail.com
मोबाइल : 9130570121